शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

कार्तिक : २४८३ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ७

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

भगवान को नमस्कार

अहो भगवान! स्वाश्रय द्वारा ज्ञान-संपत्ति को प्राप्त हुए और स्वाश्रय द्वारा ज्ञान-संपत्ति को प्राप्ति का उपदेश आपने हमें दिया। हम उस उपदेश को ग्रहण करके, ज्ञान-संपत्ति की ओर झुककर... आप को नमस्कार करते हैं, आप के पंथ की ओर आ रहे हैं। इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है।

[वीर सं. २४८१ आषाढ़ सुद ६,
प्रवचनसार गाथा ८२ के प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१३९]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

परमात्मा की घोषणा

भगवान ने समवसरण में ऐसी दिव्य घोषणा की है कि अहो जीवो! तुम्हारे आत्मा में परम शक्ति पूरित है, उस शक्ति का विश्वास करो। जो जीव अपनी परमात्माशक्ति का विश्वास करता है, उसका बहिरात्मपना छूटकर वह अंतरात्मा होता है, और पश्चात् वह अपनी चैतन्यशक्ति में लीन होकर उसमें से परमात्मादशा प्रकट करता है।

इसप्रकार सर्वज्ञ परमात्मा ने परमात्मा होने का पंथ इंगित किया है।

निज चैतन्य विषय को भूलकर बाह्य विषयों में सुख-दुःख की बुद्धि से अज्ञानी जीव दिन-रात जल रहे हैं।

अरे जीव! परम आनंद से पूरित तुम्हारे आत्मा को सँभालो...! और आत्मा के शान्त रस में मग्न हो।

आत्मधर्म

कार्तिक : २४८३ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ७

आत्मा को अभिनन्दन

वीर सं. २४८० ज्येष्ठ कृष्णा ३ के दिन बोटाद में

परम पूज्य गुरुदेव का प्रवचन

अपने चिदानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसके अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करना ही आत्मा का सच्चा अभिनंदन है। इसके अतिरिक्त जगत के लोग एकत्रित होकर प्रशंसा करें या अभिनंदनपत्र दें, उसमें आत्मा का हित नहीं है। अरे भगवान! तुझे अपने आत्मा का कभी सच्चा बहुमान ही नहीं आया। अपने चैतन्यस्वरूप की महत्ता को भूलकर तू संसार में भटकता रहा। तेरे स्वभाव में सर्वज्ञभगवान जैसी शक्ति भरी है; उसका बहुमान करके स्वभावोन्मुख हो और स्वभाव के आनन्द का वेदन करके तू अपने आत्मा का अभिनंदन कर, उसी में तेरा हित है।

निश्चय से आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञानानन्द है, उसे जानकर उसका अवलम्बन करने से ही परम पद की प्राप्ति होती है, वह बात कहते हैं:—

जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही इस आत्मा का परमार्थस्वभाव है; अनादि-अनंत एकरूप चिदानन्दस्वभाव है, वह शुद्धनय का विषय है; ज्ञान को अन्तर्मुख करके ऐसे परमार्थस्वभाव का आश्रय करना, वह मोक्ष की प्राप्ति का कारण है और अखण्ड आत्मा में भेद करके लक्ष में लेने से राग होता है; यदि उसके आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यात्व है और उस मिथ्यात्व का फल संसार-परिभ्रमण है।

यह आत्मा, देह ने भिन्न ज्ञानानन्द तत्त्व है, अनादि-अनंत है; न तो किसी ने उसे बनाया है और न कभी उसका अभाव होता है। इस जड़ देह से तो वह पृथक् है और अंतर में जो क्षणिक पुण्य-पाप की वृत्तियाँ उठती हैं, वे भी क्षणिक-नाशवंत हैं; वह नित्यस्थायी स्वभाव नहीं है; उससे पार आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव है। है वह नित्य स्थायी है। ज्ञान का जो पक्ष अन्तरोन्मुख होकर शुद्ध ज्ञानानन्द परमार्थस्वभाव को जाने, उसे शुद्धनय कहते हैं। अनादिकाल से अपने शुद्ध परमार्थ स्वभाव को भूलकर, देह-मन-वाणी की क्रिया मैं करता हूँ और पुण्य-पाप मेरे स्वरूप हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिये संसार में भटक रहा है। जो संसार का नाश करके सर्वज्ञ परमात्मा हुए, वे कहाँ से हुए हैं ?—अंतर में परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव था, उसी में से सर्वज्ञता प्रगट हुई है; बाह्य से या पुण्य में से वह सर्वज्ञता नहीं आई है किन्तु अंतरस्वभाव के अवलम्बन से ही प्रगट हुई है। जैसे—लैंडी पीपल में चौंसठपुटी चरपराहट की जो शक्ति है, उसी में से वह चरपराहट व्यक्त होती है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान सामर्थ्य भरा है, उसी में से सर्वज्ञता व्यक्त होती है। अंतर की स्वभावशक्ति को प्रतीति में लेकर उसका अवलम्बन करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और परमात्मदशा प्रगट होती है। किन्तु ऐसे परमार्थस्वभाव को जीव ने कभी लक्ष में नहीं लिया।

चौंसठ पुटी चरपराहट व्यक्त होने से पूर्व भी लैंडीपीपल में वह शक्ति विद्यमान है। वह आँख से दिखाई नहीं देती; किन्तु 'यह लैंडी पीपल है और इसमें चौंसठ पुटी चरपराहट का स्वभाव है'—इसप्रकार उसके स्वभाव को लक्ष में लेने से वह ज्ञात होता है। उसीप्रकार आत्मा में सर्वज्ञता अनादि से व्यक्त नहीं है किन्तु नई प्रगट होती है। वह सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व अल्पज्ञता के समय भी आत्मा के स्वभाव में सर्वज्ञ होने की शक्ति नित्य विद्यमान है। अन्तरस्वभावोन्मुख होकर प्रतीति और अनुभव करने से ज्ञाता होता है कि अहो! सर्वज्ञता का सामर्थ्य मुझमें ही भरा है, उसमें से मेरी सर्वज्ञता व्यक्त होती है। ऐसे अन्तर्स्वभाव को प्रतीति में लेकर उसका अवलम्बन करने से सर्वज्ञता प्रगट हुई और उन सर्वज्ञ की वाणी में इच्छा बिना सहज ही उपदेश निकला। उसमें वे कहते हैं कि—अरे जीव! तूने अपने परमानन्द स्वभाव को अनादि से लक्ष में नहीं लिया, परमात्मदशा प्रगट होने की शक्ति मुझमें ही भरी है—ऐसी प्रतीति कभी नहीं की, और पूर्वकाल में सत्समागम से यथार्थ रुचिपूर्वक उसका श्रवण भी नहीं किया। सत्य की बात कानों में तो आई किन्तु अंतर में उसकी रुचि करके स्वभाव का लक्ष नहीं किया; इसलिये उसका श्रवण किया—ऐसा भी हम नहीं कहते। सच्चा श्रवण तब किया कहलाता है कि जैसा आत्मस्वभाव संत कहना चाहते हैं, वैसा ही

स्वयं लक्ष में लेकर उसकी रुचि और प्रतीति करे। भाई, तेरा आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसे तू शुद्धनय से दृष्टि में ले। तेरा ज्ञानस्वभाव बाह्य में पर का कुछ कर दे—ऐसा कभी नहीं होता। इच्छा हो, तथापि उस इच्छानुसार शरीरादि परवस्तुओं के कार्य नहीं बनते। प्यारी स्त्री मर रही हो, वहाँ उसे बचाने की तीव्र इच्छा होने पर भी वह मर जाती है, शरीर में रोग होने की इच्छा न होने पर भी रोग होता है—इसप्रकार इच्छा का कार्य पर में नहीं आता, और वह इच्छा जीव का स्वभाव भी नहीं है; इच्छा द्वारा अंतर के स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। इच्छाओं से पार मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ; संयोग मुझसे भिन्न हैं, उन संयोगों में मेरा कार्य नहीं है—ऐसा निर्णय किये बिना जीव की विपरीत मान्यता दूर नहीं होती, और विपरीतता दूर हुए बिना जीव को शांति नहीं मिलती।

भगवान! एकबार अपने चैतन्यतत्त्व को सँभाल! तेरी अंतर्शक्ति में सर्वज्ञता भरी है; उसे भूलकर, मैं जड़ के कार्य करूँ—ऐसा जो मिथ्याभिमान है, वह पाप है, दुःख का कारण है। जड़ के कार्यों से पृथक् मैं ज्ञानानन्द हूँ—ऐसा स्वभाव का निर्णय जीव ने पूर्वकाल में कभी एक क्षण भी नहीं किया, इसलिये वह अपूर्व है। इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ पहले कर चुका है, किन्तु उससे चार गति का परिभ्रमण दूर नहीं हुआ; वह कोई अपूर्व नहीं है।

इस जगत में आत्मा और जड़ समस्त पदार्थ अनादि-अनंत हैं, और प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण अपनी अवस्था का रूपान्तर होता है, वह उसके स्वभाव से ही होता है। जड़ में भी प्रतिक्षण पर्याय बदले—ऐसी उसकी स्वभावशक्ति है; जीव के कारण उसका कार्य हो—ऐसा नहीं होता। अज्ञानी स्व-पर के भिन्नत्व को भूलकर ऐसा अभिमान करता है कि पर के कार्य मुझसे होते हैं; किन्तु भाई, इसमें तेरा बड़प्पन नहीं है; तू तो ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव की महत्ता को लक्ष में तो ले। अपने चैतन्यस्वरूप की महत्ता को लक्ष में लिये बिना तू संसार में भटका है। जगत के लोग एकत्रित होकर तेरी प्रशंसा करें या अभिनन्दन-पत्र दें, उसमें तेरे आत्मा का कोई हित नहीं है; किन्तु अपने चिदानन्द-स्वभावसन्मुख जाकर उसके अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव ही आत्मा का सच्चा अभिनन्दन है। अरे प्रभो! तुझे अपने स्वभाव का सच्चा बहुमान ही नहीं आया और तू पर के अभिमान में रुक गया है; किन्तु तेरे स्वभाव की परम महिमा है। जो सर्वज्ञभगवन्त हुए, वे आत्मा में से ही हुए हैं और तेरे स्वभाव में भी वैसी शक्ति विद्यमान है। ऐसे स्वभाव-सामर्थ्य का बहुमान कर और उस स्वभाव की ओर उन्मुख होकर अपने स्वभाव के आनन्द का वेदन करके अपने आत्मा का अभिनन्दन कर, उसी में तेरा हित है; इसके अतिरिक्त जगत् के लोग एकत्रित होकर अभिनन्दन का कागज दें, उसमें कोई हित नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य की शुभवृत्ति उठे, वह भी भगवान आत्मा के स्वभाव में अभूतार्थ है। भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव है, वह भूतार्थ है, और उस भूतार्थ स्वभाव के अवलम्बन से ही परमानन्ददशा की प्राप्ति होती है। जहाँ तक ऐसे भूतार्थ स्वभाव का अवलम्बन न ले, तब तक जीव को धर्म का प्रारम्भ भी नहीं होता। अहो! पूर्व अनंत भवों में पुण्य करके स्वर्ग में गया, किन्तु अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को कभी एक क्षण भी लक्ष में नहीं लिया, इसलिये संसार में ही भटकता रहा। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! अनंत जन्म-मरण में जीवों को इस चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति दुर्लभ हो गई है; पुण्य-पाप तो सुलभ हैं, वे अनंत बार कर चुका है; किन्तु उनसे पार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है—यह बात पूर्व काल में कभी एक क्षण भी लक्ष में नहीं ली। इसलिये हे भाई! शुद्धनय से अपने आत्मस्वभाव को लक्ष में तो ले! तेरा शुद्ध चिदानन्दस्वभाव अनंत गुणों का पिण्ड है, वह भूतार्थ है; इसके अतिरिक्त गुणभेद का विकल्प उठे, वह वह भी अभूतार्थ है और संयोग तो पृथक् हैं। एक बार ज्ञानानन्दस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसका अवलम्बन करना, वह धर्म है; ऐसा धर्म, मोक्ष का कारण है। किन्तु अनादि से जीव ने ऐसे ही धर्म को कभी लक्ष में ही नहीं लिया तो फिर साधना कहाँ से करे? हे आत्मा! पुण्य के फल में स्वर्ग की प्राप्ति हो, उसमें भी तेरा हित या धर्म नहीं है; किन्तु अंतर में तेरा आत्मस्वभाव शुद्ध सिद्धसमान है, उस परमार्थ स्वभाव का अवलम्बन कर तो उसके अवलम्बन से तेरा हित प्रगट हो और भवभ्रमण का अंत आये। ज्ञान की वर्तमान दशा में मति-श्रुतज्ञान आदि जो भेद हैं, वे एकाकार ज्ञानस्वभाव का भेदन नहीं करते किन्तु अभिनन्दन करते हैं; अर्थात् उस ज्ञान को अन्तरोन्मुख कर अभेदस्वभाव में एकाग्र किया, वहाँ वह ज्ञान आत्मा के एकाकार ज्ञानस्वभाव का अभिनन्दन करता है।—इसप्रकार अपने ज्ञान द्वारा अपने आत्मा का अभिनन्दन करना वह मुक्ति का कारण है।

अंतर में चैतन्य के अतीन्द्रिय-आनंद को भूलकर बाह्य इन्द्रिय-विषयों में मूर्छित बहिरात्मा निरंतर दुःखी होते हैं।

और

मेरा सुख मेरे आत्मा में ही है, बाह्य इन्द्रिय-विषयों में मेरा सुख नहीं—ऐसी अंतर प्रतीति करके, धर्मात्मा अंतर्मुख होकर आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का आस्वाद लेता है... वह निरंतर सुखी है।

''आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?''

[२१]

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में आचार्यदेव ने ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार।

(अंक १३७ से आगे)

जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि 'हे प्रभो! अनादि से जिसे नहीं जान पाया—ऐसे आत्मा का स्वरूप जानकर मैं उसकी प्राप्ति करूँ और संसारपरिभ्रमण का अंत होकर मेरी मुक्ति हो—ऐसा स्वरूप समझाइये।'

—इसप्रकार जो आत्मा का ही अर्थी होकर समझना चाहता है—ऐसे शिष्य को आचार्यभगवान आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं; उसी का यह वर्णन हो रहा है।

(४०) भोक्तृनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य भोक्तृनय से सुख-दुःखादि का भोगनेवाला है—हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति।

जिनके भावलिंगी मुनिदशा वर्तती थी और अंतर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग करते थे, प्रतिक्षण और प्रतिपल निर्विकल्प होकर आत्मा के आनंदस्वरूप में झूलते थे—ऐसे दिगंबर संतों का यह कथन है। जो जिज्ञासु शिष्य पात्र होकर समझना चाहता है, उसके लिये यह कथन है। यहाँ ४७ नयों से आत्मा के धर्मों का वर्णन हो रहा है। जिसे अंतर्मुख आत्मस्वभाव के

अवलम्बन से सम्यक्भावश्रुतज्ञान हुआ हो, उसी को सच्चे नय होते हैं।

भोक्तृनय से आत्मा सुख-दुःख का उपभोग करता है। हर्ष, वह सुख और शोक, वह दुःख—इस प्रकार यहाँ सुख और दुःख दोनों विकार हैं। जिसप्रकार रोगी हितकारी-अहितकारी अन्न खाता है और उसके फलरूप साता-असाता भोगता है, उसीप्रकार आत्मा हर्ष-शोक के विकारी परिणाम करता है और उनके फलरूप सुख-दुःख का उपभोग करता है। कर्म के उदय के कारण हर्ष-शोक का उपभोग होता है—ऐसा नहीं है, किन्तु जीव की पर्याय में वैसा भोक्ता धर्म है। जड़कर्म का कोई धर्म आत्मा में नहीं है, और आत्मा का कोई धर्म जड़धर्म के कारण नहीं है; जो कर्म के उदय के कारण हर्ष-शोक होना मानता है, उसने आत्मा का धर्म पर के कारण माना है, इसलिये वास्तव में उसने आत्मा को नहीं जाना है; और आत्मा की पर्याय में हर्ष-शोक का भोक्तृत्व सर्वथा है ही नहीं—ऐसा माने तो उसने भी आत्मा के भोक्ताधर्म को नहीं माना है; वह भी मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा का भोक्ता धर्म पर के कारण नहीं है, और न आत्मा पर का उपभोग करता है, किन्तु अपनी अवस्था में होनेवाले हर्ष-शोक को भोगे—ऐसा उसका एक धर्म है।

कोई कहता है कि आत्मा की पर्याय में हर्ष-शोक का उपभोग क्यों होता है?—क्या कर्मोदय के कारण होता है? तो यहाँ उसका उत्तर कहते हैं कि—आत्मा में वर्तमान में वैसा ही भोक्ताधर्म है, वह किसी अन्य के कारण नहीं है। और पूछे कि ऐसा धर्म क्यों हुआ? तो कहते हैं कि—जिसप्रकार आत्मा सत् है, उसीप्रकार उसके धर्म भी सत् हैं। पर्याय में भी प्रत्येक समय का सत्पना है। सत् के सम्बन्ध में 'ऐसा क्यों?'—ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता।

यहाँ प्रमाण के विषयरूप वस्तु का वर्णन है, इसलिये द्रव्य तथा पर्याय दोनों के धर्मों का वर्णन लिया है। इन धर्मों में कुछ धर्म तो त्रिकाल हैं, और कुछ धर्म त्रिकाल नहीं हैं; किन्तु अमुक पर्याय पर्यंत ही हैं। किन्तु त्रिकाली धर्म हो या पर्याय पर्यंत धर्म हो—वह प्रत्येक धर्म आत्मा का ही है, कोई भी धर्म पर के कारण नहीं है।

जब द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से आत्मा का वर्णन चलता हो, तब ऐसा कहा जाता है कि आत्मा अपने शांत-अनाकुल अतीन्द्रिय आनंदस्वभाव का ही भोक्ता है, विकार का भोक्ता नहीं है। सम्यक्दर्शन में तो शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति है, उसके ध्येय में विकार नहीं है; त्रिकाल एकरूप चैतन्यस्वभाव को ही वह स्वीकार करता है। किन्तु उस सम्यक्दर्शन के साथ जो

सम्यक्ज्ञान-प्रमाण है, वह सामान्य-विशेषरूप वस्तु को जानता है, पर्याय की अशुद्धता को भी वह आत्मा की जानता है; पर्याय में जो हर्ष-शोकरूप विकार होता है, उसका भोक्ता भी आत्मा है—ऐसा सम्यक्ज्ञानी भोक्तृनय से जानता है। सामान्य ध्रुवचैतन्य स्वभाव शुद्ध है, उसके निर्णयपूर्वक का सम्यक्ज्ञान हर्षादि भावों के वेदन को भी अपनी पर्याय के धर्मरूप जानता है। स्वभावदृष्टि की प्रधानता में तो विकार, वह कर्म का ही कार्य है—आत्मा का कार्य नहीं है, ऐसा भी कहा जाता है, किन्तु प्रमाणज्ञान उस पर्याय को अपनी जानता है। भोक्तृनय से आत्मा ही विकार का भोक्ता है—ऐसा सम्यक्ज्ञान जानता है।—इसप्रकार जहाँ पर जिस बात जिस रूप से कही हो, वहाँ वैसा समझना चाहिये। विकार जड़ का है—ऐसा कहनेवाले की दृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वभाव पर होना चाहिये। मात्र जड़ पर या विकार पर ही दृष्टि रखकर विकार को जड़ कहे और अपनी पर्याय का विवेक भी न करे तो उसका ज्ञान ही मिथ्या है। शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्याय गौण हो जाती है, किन्तु ज्ञान तो द्रव्य और पर्याय दोनों को विषय करके यथावत् जानता है; पर्याय में जो विकार है, उसे भी जानता है और अविकारी स्वभाव को भी जानता है।—इसप्रकार दोनों को जानकर शुद्धनय के अवलम्बन के बल से वह स्वभाव को साधता जाता है और विकार को टालता जाता है।

द्रव्यकर्म तो जड़ है, आत्मा से पृथक् है; आत्मा उसका उपभोग नहीं करता, किन्तु अपनी पर्याय में हर्ष-शोक का उपभोग करे—ऐसा आत्मा का भोक्ताधर्म है। उस भोक्ताधर्म को जाननेवाला ज्ञानी ऐसा जानता है कि—इस हर्ष-शोक को भोगने का मेरा त्रिकाली धर्म नहीं है; किन्तु क्षणिकपर्याय का धर्म है, मेरा त्रिकाली स्वभाव तो चैतन्य ज्ञाता है;—ऐसे भान में अल्प भोक्तापने के साथ उसका साक्षीपना भी साथ ही वर्तता है। ज्ञानी को भी हर्ष-शोक होता है, किन्तु वह हर्ष-शोक के उपभोग के समय ही ज्ञातास्वभाव के अतीन्द्रिय आनंद के अंश का अनुभव वर्तता है। इसलिये उस हर्ष-शोक के साक्षीपनेरूप अभोक्ताधर्म का परिणमन भी वर्त रहा है।

आत्मा ही अपने धर्मों का स्वामी है और पर अपने धर्मों का स्वामी है। आत्मा के धर्मों का स्वामी कोई पर नहीं है और पर के धर्मों का स्वामी आत्मा नहीं है। आत्मा को अपने धर्मों के साथ ही 'स्व-स्वामी संबंध' है, पर के साथ उसे स्व-स्वामी संबंध नहीं है। आत्मा के धर्मों का स्वामी वह स्वयं है और जड़ कर्म के धर्मों का स्वामी जड़ है, कोई एक-दूसरे का स्वामी नहीं है।

भोगावली कर्म के तीव्र उदय के कारण जीव को चारित्र से भ्रष्ट होकर भोगों में रुक जाना पड़ता है—ऐसा अज्ञानी जीव मानते हैं। भाई! भोगवली कर्म तो जड़ है, वह आत्मा से पृथक् है, उसका स्वामी जड़ है, आत्मा उसका भोक्ता नहीं है।

भोक्तृनय से आत्मा हर्ष-शोकरूप अपने परिणामों का कर्ता है;—इसप्रकार जो आत्मा के भोक्ताधर्म को जाने, उसकी दृष्टि कर्म के सन्मुख नहीं होती किन्तु अपने आत्मा के सन्मुख होती है। स्वभाव से च्युत होकर वह पर सन्मुख नहीं देखता, इसलिये भोग की तीव्र आसक्ति के परिणाम तो उसके होते ही नहीं; द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता से उसे भोगों की रुचि छूट गई है। अस्थिरता के कारण जो हर्ष-शोक के परिणाम होते हैं, वे अत्यंत अल्प हैं और चैतन्यस्वभाव की ही अधिकता है। आत्मा के धर्मों की सच्ची पहिचान होने के पश्चात् भी ज्यों के त्यों तीव्र विषय-भोग के परिणाम बने रहे—ऐसा कदापि नहीं होता। आत्मा के अतीन्द्रियसुख का स्वाद जाना, वहाँ इन्द्रिय विषयों की अत्यन्त तुच्छता भासित हुए बिना नहीं रहती। इसप्रकार साधक को पर्याय में से हर्ष-शोक का भोक्तृत्व क्रमशः दूर होता जाता है और अनाकुल शांति का वेदन बढ़ता जाता है—ऐसा भोक्तृनय का फल है। सर्वज्ञ की श्रद्धा कहो, क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो, आत्मा के धर्मों की पहिचान कहो, या कोई भी न्याय लो—उन सबमें वस्तु की एक ही अखण्ड शृंखला है अर्थात् सब का सार तो चैतन्यद्रव्य की सन्मुखता में ही आकर खड़ा हो जाता है। चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता के बिना सर्वज्ञ की श्रद्धा सच्ची नहीं होती, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा भी सच्ची नहीं होती, और कोई भी नय अथवा न्याय सच्चा नहीं होता। सम्यक्त्वी भले ही अपनी पर्याय में हर्ष-शोक के भोक्ताधर्म को देखे, तथापि वह अपने शुद्ध-चैतन्य के सन्मुख दृष्टि रखकर उस धर्म को जानता है; इसलिये उसके भोक्तृनय की प्रधानता नहीं रहती, किन्तु शुद्धचैतन्यस्वभाव की ही प्रधानता रहती है। पर के भोक्तृनय की तो मान्यता ही उसके नहीं है। जिसे पर के भोक्तृनय की मान्यता है, उसका आत्मा के धर्मसन्मुख लक्ष ही नहीं है। पर से भिन्न आत्मा के धर्मों का उसे भान नहीं है।

आत्मा क्या वस्तु है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है; इसलिये उसे एकान्त मिथ्याज्ञान है। वह दूर होकर अनेकान्तस्वरूप प्रमाण-ज्ञान कैसे हो, उसकी यह बात है। प्रमाणज्ञान अर्थात् जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ज्ञान करना। मिथ्याज्ञान का विषय झूठा है अर्थात् उसका विषय ही जगत में नहीं है। अज्ञानी जैसा मानता है, वैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, और वस्तु का स्वरूप जाने बिना नयज्ञान भी सच्चा नहीं होता। जैसा पदार्थ का स्वरूप हो, वैसा ही जाने, वह सम्यग्ज्ञान है, इसलिये सम्यक्ज्ञान का विषय सच्चा है। वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान हो, वहीं सच्चे नय होते हैं।

यहाँ भोक्तृनय से आत्मा को हर्ष-शोक का भोक्ता कहा है; वहाँ उतना ही आत्मा मान ले, और अनंतधर्म के पिण्डस्वरूप चैतन्यवस्तु है, उसे न पहिचाने तो उसने आत्मा का स्वरूप नहीं

जाना है और न उसके धर्म को भी जाना है। साधक सम्यक्ज्ञानी तो पूर्ण चैतन्यवस्तु के ज्ञानपूर्वक भोक्ताधर्म को उसके एक क्षणिक अंशरूप जानता है, इसलिये हर्ष-शोक के भोक्तृत्व के समय अभोक्तारूप साक्षीधर्म भी उसके साथ ही है। यदि भोक्ता के समय ही अभोक्ताधर्म न वर्तता हो और मात्र हर्ष-शोक का भोक्तृत्व ही एकान्त वर्त रहा हो, तो वहाँ अनंतधर्मस्वरूप आत्मवस्तु दृष्टि में नहीं आई, इसलिये एकान्त मिथ्यात्व हो गया; वहाँ भोक्तानय भी नहीं होता। हर्ष-शोक के क्षणिक उपभोग को जानते हुए, जिसके अभोक्तारूप साक्षी-स्वभाव का भान भी वर्तता है—ऐसे ज्ञानी के ही भोक्तानय होता है। भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ हैं, उन्हें जाने तो अनेकान्त हो, और उस अनेकान्तपूर्वक ही नय होते हैं।

भोक्तृनय से भी आत्मा संयोग का भोक्ता नहीं है, किन्तु अपने में जो हर्ष-शोक हो, उसका भोक्ता है। धर्मी जानता है कि मेरी पर्याय में यह जो क्षणिक हर्ष-शोक का वेदन होता है, वह दुःखदायक है, उतना ही मैं नहीं हो सकता। मैं तो नित्य अनंतगुणों का चैतन्य पिण्ड हूँ। सिद्धभगवान जैसे अतीन्द्रिय आनंद का सागर हूँ। बाह्य में सुन्दर आहारादि अनुकूल सामग्री हो, उसका वेदन आत्मा को नहीं है, और शरीर में तीव्र रोग आदि प्रतिकूलता हो, उसका वेदन भी उसे नहीं है; संयोगों के कारण आत्मा को सुख-दुःख का वेदन नहीं है। स्वर्ग की इन्द्राणी आये, उसके कारण आत्मा को हर्ष या सुख नहीं है और व्याघ्री आकर शरीर को फाड़ खाये तो उसके कारण उसे शोक या दुःख नहीं है। आत्मा किन्हीं संयोगों के कारण सुख-दुःख का उपभोग नहीं करता, किन्तु अपने भोक्तृधर्म से सुख-दुःख को भोगता है; अपनी पर्याय का ऐसा धर्म है कि हर्ष-शोकरूप सुख-दुःख का उपभोग करता है। साधक धर्मात्मा को भी यह धर्म लागू होता है, क्योंकि उसके भी अभी पर्याय में हर्ष-शोक के भावों का अल्प वेदन होता है। किन्तु जो ऐसे भोक्ताधर्म को यथार्थस्वरूप से जानता है, उसे अनंतधर्मों के आधाररूप शुद्धचैतन्यद्रव्य का सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिये क्षणिक विकार का वेदन और त्रिकाली शुद्धचैतन्यस्वभाव —दोनों का भेदज्ञान उसे वर्तता है। पर्याय में हर्ष-शोक होते हैं, वहाँ वह जानता है कि मेरा परिपूर्ण चैतन्यतत्त्व इस हर्ष-शोक के वेदन जितना नहीं है, और किसी निमित्त या संयोग के कारण भी मुझे हर्ष-शोक नहीं हुआ है; किन्तु मेरी अपनी पर्याय के भोक्ताधर्म के कारण हर्ष-शोक का वेदन होता है; वह भोक्ता-धर्म भी मेरा है। 'सुख-दुःख का उपभोग करना, वह शरीरधर्म है'—ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं, किन्तु शरीर तो जड़ है, उसके कहीं सुख-दुःख का उपभोग नहीं होता; सुख-दुःख का उपभोग करे, ऐसा आत्मा का एक धर्म है।

प्रश्न—भोक्तृनय से आत्मा सुख-दुःख का उपभोग करे, ऐसा उसका भोक्ताधर्म है; तब फिर वह सुख-दुःख के (हर्ष-शोक के) उपभोग रहित कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यह बात कर्ताधर्म के वर्णन में विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है, तदनुसार इस भोक्ताधर्म में भी समझना चाहिये। विकार का कर्ता-भोक्तारूप धर्म अनादि-अनंत नहीं है किन्तु अमुक अवस्था पर्यंत ही है। पुनश्च, आत्मा का ऐसा धर्म है—इसप्रकार जाने तो आत्मद्रव्य को भी जाने और सुख-दुःख का साक्षी हो जाये। तथा हर्ष-शोक का भोक्तृत्व उसके क्रमशः दूर होता जाये। भोक्तृनय से हर्ष-शोक का भोक्तृत्व कहा, वह तो एक धर्म है, उस धर्म को देखनेवाले की दृष्टि अकेले धर्म पर नहीं होती, किन्तु धर्मी ऐसे चैतन्य द्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है, इसलिये शुद्धद्रव्य पर दृष्टि के बल से अल्पकाल में वह हर्ष-शोक के भोक्तृत्व से रहित हो जाता है; फिर उसके ऐसा भोक्ताधर्म नहीं रहता किन्तु अतीन्द्रिय आत्मिक सुख का ही उपभोग रहता है।

परवस्तु का उपभोग तो अज्ञानी भी नहीं करता किन्तु पर में सुख-दुःख की कल्पना करके, मोत्र हर्ष-शोक का ही वह उपभोग करता है; और ज्ञानी तो अनंतधर्मात्मक आत्मद्रव्य को देखता हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द के उपभोग सहित 'पर्याय में हर्ष-शोकरूप सुख-दुःख का मैं भोक्ता हूँ'—इसप्रकार भोक्ताधर्म को जानता है; इसलिये उसके हर्ष-शोक के उपभोग का साक्षीपना साथ ही रहता है। अज्ञानी पर्यायदृष्टि से मात्र हर्ष-शोक के उपभोग को ही देखता है; इसलिये उसके साक्षीपना नहीं रहता। ज्ञानी पर्याय पर दृष्टि रखकर भोक्ताधर्म को नहीं देखते, किन्तु शुद्धद्रव्य पर दृष्टि रखकर उसे जानते हैं, इसलिये उनकी दृष्टि में भोक्तापने की मुख्यता नहीं हुई किन्तु शुद्ध आत्मद्रव्य की ही मुख्यता हुई; शुद्ध आत्मा की मुख्यता में हर्ष-शोक का भोक्तापना दूर होता जाता है।

भोगावली कर्म के उदय से आत्मा गिरता है—यह बात तो कहीं दूर रही, किन्तु अपने में मात्र हर्ष-शोक के वेदन को ही देखे तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है। आत्मा का भोक्ताधर्म पर के कारण नहीं है। भोक्ताधर्म को देखे, उसे आत्मा दृष्टिगोचर होता है और वहाँ भोक्तृत्व अधिक काल तक बना रहता है—ऐसा नहीं होता। परिपूर्ण आत्मा को न देखकर जो मात्र भोक्तृत्व को ही देखता है, वह तो हर्ष-शोक का भोक्ता ही होकर संसार की चार गतियों में परिभ्रमण करता है, उसके भोक्तानय नहीं होता।

जितने प्रमाण में कर्म का उदय आये, उतने प्रमाण में एकबार तो उसमें युक्त होना ही पड़ता

है—ऐसा जो मानता है, वह तो तीव्र मूढ़ता का सेवन करता है; परसन्मुखता से किंचित्मात्र हटकर आत्मा की ओर देखने का उसे अवकाश नहीं है। जीव ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर निचले गुणस्थान में आता है, वह अपनी ही पर्याय के वैसे धर्म के कारण आता है—जड़कर्म के कारण नहीं। कर्मादि पर की ओट लेकर जो भोक्तृत्व मानता है, वह तो अज्ञानी है। मैं शुद्धचिदानंदमूर्ति अनंत धर्मों का पिण्ड हूँ—इसप्रकार स्वद्रव्यसन्मुख देखकर उसकी ओट में ज्ञानी अपने भोक्ताधर्म को भी जानता है और ऐसे ज्ञानी को भोक्तृत्व (हर्ष-शोक का वेदन) अति अल्प होता है। धर्मी जानता है कि मेरी पर्याय में ही हर्ष-शोक का भोक्तृत्व है, वह पर के कारण नहीं किन्तु मेरी पर्याय में वैसा भोक्ताधर्म है। मैं उस भोक्ताधर्म जितना ही नहीं हूँ किन्तु अनंतधर्म का पिण्ड हूँ—इसप्रकार द्रव्य को देखनेवाला धर्मात्मा साक्षी रहकर अल्पकाल में भोक्तृत्व टालकर वीतरागी हो जायेगा।

किसी भी नय से आत्मा को जाननेवाला स्वसन्मुख देखता है, और तभी उसका नय सच्चा है। नय तो सम्यक् श्रुतज्ञान का पक्ष है, वह साधक के ही होता है। नय ज्ञान से आत्मा के धर्म को जाननेवाला किसके सन्मुख देखेगा? कर्म के सन्मुख या आत्मा के? सर्व नय आत्मसन्मुख देखकर ही उस धर्म को स्वीकार करते हैं; परसन्मुख देखकर आत्मा के धर्म का यथार्थ स्वीकार नहीं हो सकता। भोक्तानय आत्मा के भोक्ताधर्म को स्वीकार करता है, वह किसके समक्ष देखकर करता है? आत्मा की ओर देखकर उसके भोक्ताधर्म को जाननेवाला साधक जीव, स्वभाव के अवलम्बन से वह भोक्तृत्व दूर करके अल्पकाल में परमानंद का उपभोग प्रगट करके सिद्धपरमात्मा हो जायेगा।—ऐसा इस भोक्तृनय का परमार्थ फल है।

—यहाँ ४० वें भोक्तृनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

❀❀❀

(४१) अभोक्तृनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से सुख-दुःखादि का उपभोक्ता नहीं है किन्तु मात्र साक्षी ही है। हितकारी-अहितकारी अन्न खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य की भाँति। जिसप्रकार रोगी सुख-दुःख का उपभोग करता है किन्तु वैद्य तो उसका साक्षी ही है, उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में हर्ष-शोकरूपी जो रोग है, उसका ज्ञानी भोक्ता नहीं है, किन्तु साक्षी ही है। ऐसे साक्षीधर्म से आत्मा को लक्ष में लेने का नाम अभोक्तृनय है।

भोक्तृनय और अभोक्तृत्व दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ ही हैं। शुद्धचैतन्यमूर्ति आत्मा अनंत

धर्मों को धारण करनेवाला है, वह नय से हर्ष-शोक का भोक्ता भी है और उसीसमय अभोक्तानय से उसका साक्षी भी है। शरीरादिक परवस्तु का भोक्ता तो भोक्तानय से भी नहीं है; भोक्तानय से हर्ष-शोक का भोक्तृत्व है और अभोक्तानय से तो उस हर्ष-शोक का भोक्तृत्व भी आत्मा के नहीं है; आत्मा तो साक्षीस्वरूप है। ज्ञाताभाव से पृथक् जो रागादि विकारी परिणाम हैं, आत्मा उनके उपभोग से रहित है—ऐसी अभोक्तृत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है; उसका वर्णन समयसार के परिशिष्ट में वर्णित ४७ शक्तियों में किया है। आत्मा के ऐसे अभोक्तास्वभाव की प्रतीति करने से, साधक को पर्याय में शोक का अल्प उपभोग होने पर भी उसके साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है। एक आत्मा भोक्ताधर्मवाला और दूसरा अभोक्ताधर्मवाला—ऐसा नहीं है; उसीप्रकार एक आत्मा में कभी भोक्ताधर्म और अभोक्ताधर्म ऐसी भिन्नता भी नहीं है; एक आत्मा में दोनों धर्म एकसाथ ही हैं। (यह साधक की बात है, इसलिये साधक को भोक्तृत्व के साथ अभोक्तृत्व वर्तता है—ऐसा समझना)। पर्याय में हर्ष-शोक का भोक्तृत्व और उसीसमय उसका अभोक्तृत्व;—इसप्रकार दोनों धर्मों से आत्मद्रव्य को पहिचाने तो मात्र हर्ष-शोक के वेदन में न रुककर ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर हर्ष-शोक का साक्षी हो जाये, और हर्ष-शोक से पार ऐसे चैतन्य-स्वभाव के आनंद का वेदन प्रगट हो—उसका नाम धर्म है।

भोक्तृनय से आत्मा को हर्ष-शोक का भोक्ता कहा, उसका तात्पर्य भी द्रव्यस्वभावोन्मुख होकर ज्ञाता-दृष्टा रहना है; भोक्तानय का प्रयोजन कहीं हर्ष-शोक के उपभोग में ही अटक जाना नहीं है क्योंकि भोक्तृनय के समय भी आत्मा में कहीं मात्र भोक्ताधर्म ही नहीं है; उसीसमय अभोक्ताधर्म भी आत्मा में है। आत्मा के अभोक्ताधर्म को जाननेवाला अल्प हर्ष-शोकादि का भी ज्ञाता रहकर अभोक्ता रहता है; हर्ष-शोक के उपभोग में वह एकाकार नहीं होता। हे भाई! ऐसे धर्मों से तू अपने आत्मद्रव्य को देख! आत्मा की ओर लक्ष करने से तेरा स्वभाव जो ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वरूप शुद्धचैतन्य मात्र है, वह तुझे भासित होगा और उसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म होगा।

जिसने शरीर को धर्म का साधन माना है, उसे शरीर पुष्ट होने पर हर्ष और शरीर में रोगादि होने पर शोक होता है; तथा वह हर्ष-शोक के वेदन में ही लीन होकर आत्मा को चूक जाता है। शरीर से धर्म माना, इसलिये शरीर के ही अस्तित्व में अपना अस्तित्व मान लेता है और उसी के लक्ष से मात्र हर्ष-शोक के उपभोग में ही वह लीन हो जाता है, किन्तु साक्षीरूप से नहीं रहता। हर्ष-

शोक के वेदन के समय भी आत्मा में उसके साक्षीपनेरूप अभोक्ताधर्म है; भोक्तृत्व के क्षण ही अभोक्तास्वभाव विद्यमान है—ऐसा जो जानता है, उसे साधकत्व हुए बिना नहीं रहता; उसे पर्याय में भी अंशतः साक्षीपना-अभोक्तृत्व वर्तता है।

हर्ष-शोक के वेदन के समय ही मुझमें साक्षीपना है—ऐसा जाने, तभी अनेकान्तस्वरूप वस्तु को पहिचाना है; हर्ष-शोक के समय उतना ही आत्मा को मान ले, किन्तु उसीसमय आत्मा में दूसरा अभोक्तास्वभाव है, उसे न पहिचाने तो उसने अनेकान्तरूप वस्तु को नहीं जाना है; किन्तु उसे एकान्तरूप माना है; वह मिथ्यात्व है और जो पर के कारण आत्मा में हर्ष-शोक होना मानता है, अथवा आत्मा, पर का उपभोग करता है—ऐसा मानता है, वह तो महान मिथ्यात्व है।

(१) शरीर के रोगादि के कारण आत्मा हर्ष-शोक का उपभोग करता है—ऐसा हो तो भोक्ताधर्म आत्मा का नहीं रहा किन्तु पर का हो गया। और (२) हर्ष-शोक के समय यदि आत्मा उतना ही हो तो वह अनेकान्तरूप न रहा किन्तु एकान्त हर्ष-शोकरूप ही हो गया। इसलिये, (१) पर के कारण आत्मा को हर्ष-शोक का उपभोग नहीं है और (२) हर्ष-शोक के उपभोग के समय उतना ही आत्मा नहीं है। आत्मा एक समय में अनंत धर्म का पिण्ड है; उसके आश्रय से साधक को हर्ष-शोक के समय भी उस हर्ष-शोक से रहित साक्षीपना वर्तता है।

देखो, यह आत्मा की प्राप्ति का पंथ! आत्मा क्या वस्तु है, उसे पहिचाने बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिये आत्मा की पहिचान के लिये उसका यह वर्णन चल रहा है।

भवभ्रमण से थका हुआ जिज्ञासु शिष्य आत्मा को समझने के लिये श्रीगुरु के पास आकर पूछता है कि—हे प्रभो! आत्मा के भान बिना अनंत अवतारों में भटक-भटककर मैं थक गया हूँ; हे नाथ! अब ऐसा उपाय बतलाइये कि जिससे आत्मा को समझ लूँ और भवभ्रमण से मेरा छुटकारा हो... आत्मा का यथार्थ स्वरूप मुझे समझाइये!

श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई! तू आत्मा का अर्थी होकर पूछने आया है तो हम तुझे आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। हम जो कुछ कहें, वह शांतचित्त से धीर होकर सुन। इस बात को स्वीकार करके रुचि करने से उसमें सच्चा परिणमन हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मा के धर्मों द्वारा उसे पहिचानने की यह बात है। आत्मा के धर्मों से उसे पहिचानकर उसकी रुचि और एकाग्रता करना वह आत्मा की आराधना का मार्ग है, और वही अनादिकालीन विराधकपने के नाश का उपाय है।

जो जीव अभी साधक है, प्रमाण नय द्वारा आत्मा की साधना करता है—ऐसे साधक को

पर्याय में भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व इत्यादि अनंत धर्मों के आधाररूप चैतन्यवस्तु को पहिचानकर जिसे प्रमाणज्ञान हुआ है, उसी को भोक्तानय तथा अभोक्तानय होते हैं। अज्ञानी को नय नहीं होते; और जो आत्मा की साधना करके केवलज्ञान-परमात्मदशा को प्राप्त हो गये हैं, उनके भी नय नहीं होते; उन्हें अब कुछ भी साधना शेष नहीं रहा; वे तो हर्ष-शोक का भोक्तृत्व दूर करके सर्वथा अभोक्ता —साक्षीस्वरूप ही हो गये हैं और अज्ञानी एकान्त भोक्तापने में ही अटका है। साधक को अंशतः अभोक्तापना तथा भोक्तापना बना हुआ है, इसलिये वह प्रमाणपूर्वक के नयों द्वारा उसका ज्ञान करता है और शुद्ध आत्मा को साधते हैं। वह मात्र हर्ष-शोक के वेदन की मुख्यता नहीं होने देता किन्तु परिपूर्ण चैतन्यवस्तु सन्मुख होकर उसका साक्षी रहता है और उस हर्ष-शोक के वेदन को टालकर अभोक्तृत्व की वृद्धि करता जाता है।

श्रेणिक राजा क्षायिकसम्यक्दृष्टि हैं, वे इस समय नरक में हैं, वहाँ उन्हें शोक का वेदन भी होता है, तथापि उसीसमय अंतर में भान है कि—मेरा ज्ञानानंद स्वभाव है, वह हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं है—ऐसा भान होने से शोक के समय भी आत्मा की अतीन्द्रिय शांति के अंश का वेदन भी साथ ही वर्तता है।—ऐसी साधक की दशा है। भोक्तापना और उसीसमय उसका साक्षीपना, यह दोनों यदि साथ न हों तो, या तो केवली होगा अथवा अज्ञानी होगा। केवली भगवान को हर्ष -शोक का भोक्तृत्व सर्वथा दूर होकर मात्र साक्षीपना ही रहा है। अज्ञानी को मात्र हर्ष-शोक का भोक्तृत्व वर्तता है, उसके साक्षीपना नहीं है। अज्ञानी के आत्मा में भी अभोक्तारूप साक्षीस्वभाव तो है किन्तु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है; इसलिये उसे पर्याय में साक्षीपने का परिणमन नहीं होता। साधक जीव अभोक्ता स्वभाव को जानता हुआ हर्ष-शोक के समय भी उसके साक्षीरूप से परिणमित होता है।

—यहाँ ४१ वें अभोक्तृनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

❀❀❀

इस लेखमाला के अगले लेख में 'क्रियानय' और 'ज्ञाननय' के प्रवचन प्रकाशित होंगे। क्रियानय और ज्ञाननय सम्बन्धी पूज्य गुरुदेव के वे प्रवचन जिज्ञासुओं को अत्यंत उपयोगी हैं; उनके साथ-साथ पंचास्तिकाय गाथा १७२ में कहे हुए निश्चय-व्यवहार का भी मुख्य स्पष्टीकरण किया गया है।

ऐसी है... दिव्यज्ञान की प्रभुता!

(श्री प्रवचनसार गाथा ३९ के प्रवचन से)

[वीर सं. २४८१, ज्येष्ठ कृष्णा ४]

(१) आत्मा का ज्ञान और आनंदस्वभाव है, उसमें से सम्यक्ज्ञान और आनंद की व्यक्तदशा होना, उसका नाम धर्म है।

(२) आत्मा अनादि-अनंत स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसका कोई निर्माता नहीं है, वह ज्ञान और आनंदस्वरूप स्वत: सिद्ध वस्तु है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से स्वतंत्र परिपूर्ण है।

(३) आत्मा वस्तुरूप से नित्यस्थायी रहकर उसकी पर्यायें प्रतिक्षण नई-नई होती रहती हैं; इसलिये नित्यस्थायी रहकर प्रतिक्षण बदलना—ऐसा उसका अनेकान्त स्वभाव है।

(४) आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; द्रव्य में शक्तिरूप सर्वज्ञस्वभाव त्रिकाल है, उसमें से पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट हो, वह केवलज्ञान है। उस केवलज्ञान के दिव्य सामर्थ्य का यह वर्णन है।

(५) अरिहंत भगवन्तों को केवलज्ञान के साथ पूर्ण आनंद होता है; भगवान के केवलज्ञान को पहिचानकर 'णमो अरिहंताणं' करे तो वह सच्चा नमस्कार है। अरिहंत भगवान का नाम ले किन्तु उनके केवलज्ञान को न पहिचाने तो उसने अरिहंत को सच्चा नमस्कार नहीं किया है।

(६) केवलज्ञान के निर्णय में ज्ञानस्वभाव का निर्णय है; ज्ञानस्वभाव का निर्णय उसके उस ओर उन्मुख हुआ, वही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है।

(७) मैं ज्ञान हूँ, ज्ञान ही मेरा परमस्वभाव है—ऐसे निर्णय बिना किसके आधार से धर्म करेगा ? ज्ञानस्वभाव में एकाग्रतारूप क्रिया ही धर्म की क्रिया है। जिसे ज्ञान का ही निर्णय नहीं है, उसके धर्म की क्रिया नहीं होती।

(८)ज्ञान की सम्पदा ऐसी अखंडित प्रतापवान् है कि अपनी प्रभुता के बल से एक साथ समस्त पदार्थों को अपना ज्ञेय बना लेती है।—ऐसा दिव्य ज्ञान का सामर्थ्य है। यदि ज्ञान में एक साथ सर्व ज्ञेयों को जानने का सामर्थ्य न हो तो उस ज्ञान को 'दिव्य' कौन कहेगा ?

(९) दिव्यज्ञान की प्रभुता ऐसी विकसित हुई है कि—इस जीव की भविष्यकालीन मोक्षपर्याय वर्तमान में प्रगट न होने पर भी, वह दिव्यज्ञान उस मोक्षपर्याय को भी वर्तमान में भी प्रत्यक्ष जान लेता है—इसप्रकार वह त्रिकाल के समस्त ज्ञेयों को प्रत्यक्ष जानता है।

(१०) —ऐसे दिव्यज्ञान के सामर्थ्य का जिसने निर्णय किया, वह राग का या अल्पज्ञता का आदर नहीं करता—ज्ञानस्वभाव का ही आदर करता है। इसप्रकार उसके साधकभाव प्रारम्भ हो जाता है और वह 'सर्वज्ञ का नंदन' बन जाता है।

(११) दिव्य केवलज्ञान में त्रिकाल की समस्त पर्यायें एकसाथ अक्रम से ज्ञात हो जाती हैं—यही उसकी क्रमबद्धता-नियमितता प्रगट करता है। यदि पर्यायों का त्रिकाल का क्रम निश्चित न हो तो दिव्यज्ञान उन्हें एकसाथ अक्रम से वर्तमान में नहीं जान सकता; इसलिये उस ज्ञान की दिव्यता ही नहीं रहेगी! इसलिये जो त्रिकाल की पर्यायों का निश्चित क्रम नहीं मानता, वह केवलज्ञान की दिव्यता को नहीं जानता—सर्वज्ञ को नहीं जानता—आत्मा के ज्ञानस्वभाव को भी नहीं जानता।

(१२) यहाँ आचार्य भगवान ज्ञान की दिव्यता बतलाते हैं। भाई! शुद्धोपयोग के फल में जो केवलज्ञान विकसित हुआ, उसका ऐसा दिव्य प्रभुत्व है कि—जो वर्तमान में नहीं वर्तती हैं, ऐसी भविष्यकालीन पर्यायों को भी वर्तमान पर्याय की भाँति ही साक्षात् जान लेता है; समस्त पर्यायों सहित सर्व पदार्थ उस ज्ञान में ज्ञेयरूप से एकसाथ अर्पित हो जाते हैं—ऐसा उस उत्कृष्ट ज्ञान का परम सामर्थ्य है।

(१३) 'अहो! ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य!!'—जो ज्ञान की ऐसी दिव्य महिमा समझ ले, उसे दीर्घ संसार न रहे; ज्ञान की महिमा के बल से अल्पकाल में सर्वज्ञ हो जाये और भवभ्रमण का अंत हो।

(१४) 'हे भगवान! मेरा मोक्ष कब होगा?!'—इसप्रकार जिस-जिसने सर्वज्ञ से प्रश्न पूछा था, वे सब जीव निकट मोक्षगामी ही थे। क्योंकि सर्वज्ञ से प्रश्न करनेवालों के हृदय में सर्वज्ञता की महिमा वर्तती थी। और जिसके हृदय में सर्वज्ञता की महिमा वर्तती हो, उसे विशेषभव होते ही नहीं। सर्वज्ञता की महिमा करनेवाला जीव, ज्ञानस्वभाव का आदर करता है और रागादि का आदर छोड़ता है; इसलिये अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है। सर्वज्ञभगवान से प्रश्न पूछनेवाला जीव अभव्य या अनंत संसारी हो—ऐसा कोई उदाहरण है ही नहीं।

(१५) ज्ञान में भव नहीं हैं, जो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे, उसे भव की शंका नहीं रहती। 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसा निर्णय करे और अनंतभव में भटकने की शंका बनी रहे—ऐसा हो ही नहीं सकता। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करनेवाले को अनंत भव होते ही नहीं, किन्तु अल्पकाल में मुक्ति ही होती है।—ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह मुक्ति का उपाय है।

(१६) देखो, यह दिव्यज्ञान की महिमा! ज्ञान आत्मा का परमस्वभाव है; वह ज्ञानस्वभाव इन्द्रियों से और राग से पार है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके जहाँ ज्ञानपर्याय स्वोन्मुख हुई, वहाँ राग से पृथक् होकर आननद का अनुभव होता है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव में लीनता होकर जहाँ केवलज्ञान विकसित हुआ, वहाँ उस ज्ञान को कोई विघ्न नहीं है, उस ज्ञान की दिव्य महिमा विकसित हो गई है; उसका अचिन्त्य सामर्थ्य प्रगट हो गया है।

(१७) उस केवलज्ञान की महिमा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—अहो! उस दिव्यज्ञान का प्रताप अखंड है; अपनी अचिन्त्य प्रभुता के बल से एकसाथ सर्व ज्ञेयों को जान लेता है; जो पर्यायें वर्तमान में व्यक्त नहीं हैं, उन्हें भी जान लेता है। यदि त्रिकाल के समस्त ज्ञेयों को एकसाथ न जान ले तो उस ज्ञान की दिव्यता ही क्या?

(१८) क्षायोपशमिकज्ञान तो ज्ञेयों को क्रमानुसार जानता था और यह अतीन्द्रिय क्षायिकज्ञान तो ऐसा दिव्य है कि एकसाथ ही सर्वज्ञेयों को जान लेता है, और उसमें इन्द्रियों का अवलम्बन भी नहीं है—विघ्न नहीं है—पराधीनता नहीं है—ज्ञेयों को जानने की आकुलता भी नहीं है; वह अपने स्वाभाविक परम आनंद में लीन है।

(१९) —ऐसे दिव्य ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके, उसके बहुमान से आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! इस दिव्यज्ञान की जितनी महिमा की जाये, वह सब योग्य ही है। ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके आचार्यदेव का परिणमन ऐसे दिव्यज्ञान की ओर मुड़ गया है, उसकी इसमें घोषणा है।

(२०) —ऐसे दिव्य महिमावान् ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो ज्ञान का परिणमन अंतर्मुख हुए बिना न रहे। अंतर्मुख होकर अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय हुआ, वहाँ सर्वज्ञ का भी यथार्थ निर्णय हो गया और स्वभाव की साक्षी से अपने को निःशंकता हुई कि बस! अब अल्पकाल में केवलज्ञान और मुक्तिदशा प्रगट हो जायेगी, तथा सर्वज्ञभगवान के दिव्यज्ञान में भी ऐसा ही दृष्टिगोचर हो रहा है।

—दिव्यज्ञान की प्रभुता का ऐसा फल है।

भगवान आत्मा का अपूर्व स्वागत

[सौराष्ट्र के पुनीत विहारकाल में जिनबिम्ब प्रतिष्ठा के अनेक मंगलकार्य करके पूज्य गुरुदेव ज्येष्ठ शुक्ला ६ के दिन सुवर्णधाम पधारे। उस प्रसंग पर पूज्य गुरुदेव का प्रथम प्रवचन]

यहाँ समयसार, निर्जरा अधिकार के १४८ वें श्लोक की वचनिका हो रही है—

(स्वागता)

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बाहिर्लुठतीह ॥१४८॥

जिस वस्त्र पर लोद-फिटकरी आदि न हो, उस वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता; उसीप्रकार ज्ञानी को चैतन्यस्वभाव की अंतर्दृष्टि में राग का अत्यन्त अभाव है, इसलिये उसके कर्म परिग्रहपने को धारण नहीं करता। इस आत्मा को धर्म और निर्जरा कैसे हो, उसकी यह बात है। अनादिकाल से—राग-द्वेषादि विकारी भाव, सो मैं हूँ—ऐसी स्वभाव तथा विभाव के बीच की एकत्वबुद्धि है, वह बंधन का कारण है। आत्मा का बंधन अपने आत्मा के ही आधार से दूर होता है और शुद्धता प्रगट होती है; इसका नाम धर्म है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य साधन से धर्म नहीं होता।

यह स्वागत का कलश है; आत्मा का स्वागत कैसे होता है, वह कहते हैं। हे भगवान आत्मा! आपमें निर्मल शक्ति भरी है, वह व्यक्त होकर पर्याय में पधारो! आत्मा के स्वभाव का स्वागत करके उसमें एकाग्रता करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। धर्मी को अपने चिदानन्द आत्मस्वभाव का ही रंग लगा है, इसलिये उसे रागादिभावों का रंग नहीं लगता; और बाह्य देहादि की क्रिया का ग्रहणभाव भी उसे नहीं है। जिसप्रकार वस्त्र पर फिटकरी आदि न हो तो उसे रंग नहीं लगता, उसीप्रकार ज्ञानी धर्मात्मा को रागादि की रुचि छूट गई है, वह जानता है कि मेरा ज्ञानस्वरूप राग के साथ एकमेक नहीं है किन्तु राग से पृथक् ही है;—ऐसे भान में ज्ञानी को चैतन्य की रुचि का रंग लगा है और राग का रंग छूट गया है, इसलिये उसे बंधन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है। राग में एकाग्र होकर जो आत्मा के शांत ज्ञानानन्दस्वरूप के रस को चूक जाता है, उसे राग का रस है, किन्तु चैतन्य का रस नहीं है। मैं राग से भिन्न ज्ञाता-दृष्टा हूँ—ऐसी स्वभावसन्मुख दृष्टि हुई है,

वहाँ ज्ञानी को राग का रस उड़ गया है। मेरा चैतन्यस्वभाव एक समय में पूर्ण ज्ञान का पिण्ड है—ऐसी रुचि होने से ज्ञानस्वभाव की शुद्धता की ओर उन्मुख हुआ; अनादि से ज्ञान को पर सन्मुख ही करके पर को ही जानने में रुकता था और ज्ञान को राग में ही एकाग्र करता था, उसके बदले अब भेदज्ञान हुआ कि मैं तो पर से और राग से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ।—ऐसे भेदज्ञान होने से ज्ञानस्वभाव में ही एकाग्र हुआ और रागादि का रस छूट गया; उसे प्रतिक्षण निर्जरा होती है अर्थात् क्षण-क्षण आत्मा की शुद्धता बढ़ती जाती है। देखो, ज्ञानी का ज्ञान मात्र पर को या राग को ही जानने में एकाग्र नहीं है; राग से लाभ मानने की बात तो दूर रही, किन्तु अकेले राग को ही जानने में रुका रहे और शुद्धस्वभाव को चूक जाये तो वह भी मिथ्यादृष्टि है; उसने ज्ञान को ज्ञानरूप न रखकर बीच में राग की गाँठ बाँधी है। देह की क्रिया के कारण राग मंद होता है अथवा राग की मंदता धर्म का कारण है—ऐसा जो मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है ही; किन्तु जो ज्ञान अकेले राग को जानने में रुके और चिदानन्दस्वभाव की ओर न ढले, उसे भी मिथ्यात्व है। आत्मा के ज्ञानानंदस्वभाव की दृष्टि करने से चैतन्यसम्पदा प्रगट होती है। जो ज्ञान राग से पार होकर चिदानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ, उसे भगवान निश्चयनय कहते हैं। 'निश्चयनयाश्रित मुनिवर प्राप्ति करें निर्वाण की'—ऐसी वस्तुस्थिति है। उसके बदले अज्ञानी कहते हैं कि निश्चयनय ज्ञान नहीं है किन्तु जड़ है। अरे, कितनी विपरीत बात! आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव सन्मुख धर्म की दृष्टि पड़ी है, उसे निश्चयनय कहते हैं, और ऐसे स्वभाव की दृष्टिपूर्वक का ज्ञान, रागादि को जाने, उसका नाम व्यवहारनय है। निश्चयनय और व्यवहारनय—दोनों नय, ज्ञान के ही पक्ष हैं। यहाँ तो कहते हैं कि जो ज्ञान अपने स्वभाव में एकाग्र न होकर राग में एकाग्र हुआ, उसे राग का रस आता है, किन्तु ज्ञानानन्दस्वभाव का रस नहीं आता, वह मिथ्यादृष्टि है। जड़ वस्तु का स्वाद कहीं आत्मा में नहीं आता, किन्तु जड़ के स्वाद को जानते हुए अज्ञानी अपने ज्ञान को चूककर ऐसा मानता है कि मुझे यह परवस्तु का स्वाद आ रहा है; राग में एकाग्र होकर अज्ञानी मानता है कि यह पर का स्वाद आ रहा है, इसलिये उसका ज्ञान, राग में ही अटका है—उसे रागादि का परिग्रह है। किन्तु ज्ञानी के स्वभाव और विभाव की एकता टूट गई है; चिदानंदस्वभाव की दृष्टि में उसे राग का भी परिग्रह नहीं है, इसलिये उसे बंधन नहीं होता। ज्ञानी के बाह्य में संयोग वर्त रहे हों और पर्याय में राग भी होता हो, तथापि उसकी दृष्टि में रागादि के साथ कहीं एकत्व नहीं रहा है, इसलिये उसे राग का परिग्रहभाव नहीं है; तब फिर ज्ञानी के जड़ का परिग्रह कैसा?—देह-मन-वाणी आदि जड़ की

क्रिया तो अज्ञानी भी नहीं कर सकता। कोई कहे कि—'ज्ञानी देहादि की क्रिया करने को मना नहीं करते किन्तु समझकर करना चाहिये—ऐसा कहते हैं'—तो ऐसा कहनेवाला भी ज्ञानी की बात नहीं समझा है। भाई! आत्मा, देह की क्रिया कर ही नहीं सकता। समझने से पूर्व या पश्चात् कोई भी आत्मा, देहादि पर की क्रिया कर ही नहीं सकता। अज्ञानी राग की क्रिया में एकाग्र होता है, वह अधर्म है और ज्ञानी राग से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को जानकर उसमें एकाग्रता द्वारा ज्ञान की क्रिया करता है;—वह धर्म की क्रिया है। इसके अतिरिक्त जड़ की क्रिया तो कोई कर नहीं सकता। ज्ञानी को ज्ञान का ही रस है और राग का रस उड़ गया है, इसलिये उसे राग का परिग्रह नहीं है; इसलिये ज्ञानी को बंधन नहीं होता किन्तु निर्जरा होती है। पुनः कहते हैं कि—

ज्ञानवान स्वरसतोऽपि यतः स्यात सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न॥१४९॥

ज्ञानी की दृष्टि अन्तर के चिदानन्दस्वभाव पर पड़ी है, इसलिये वह निजरस से ही सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला है; इसलिये वह कर्मों के बीच पड़ा होने पर भी, कर्मों से लिप्त नहीं होता। ज्ञानी ने अपने ज्ञान को स्वज्ञेय में एकाग्र किया है, इसलिये उसके ज्ञान में अपने चिदानन्दस्वभाव का रस चढ़ा है और निजरस से ही उसके राग का परिग्रह छूट गया है। धर्मी को राग में एकाग्रता नहीं है, तो फिर कहाँ एकाग्रता है?—कहते हैं कि रागरहित चैतन्यस्वभाव की मुख्यता करके उसी में धर्मी को एकाग्रता वर्तती है। मूढ़ जीव चैतन्य को चूककर पुण्य के राग से लाभ होगा—ऐसा मानकर उस राग को अग्रसर बनाकर उसमें एकाग्रता करता है—वह संसार का कारण है। ज्ञानी अपने एक ज्ञानानन्दस्वभाव को ही अग्रसर बनाकर उसमें एकाग्रता करता है, वह मुक्ति का कारण है। प्रथम जिसे इस बात का श्रवण-मनन करने की रुचि नहीं आती, वह निर्णय करके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो कहाँ से करेगा? पहले सत्समागम से विनयपूर्वक श्रवण-मनन करके निर्णय करे, रुचि करे, उसे अन्तर्दृष्टि का परिणमन होने पर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होगा।—इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। जिसे आत्मा के चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई है—ऐसा ज्ञानी निजरस से ही राग के अभावरूप स्वभाववाला है। अज्ञानी को स्वभाव की दृष्टि का अभाव है और राग में एकाग्रता है, इसलिये उसे बंधन नहीं होता। आत्मा में रागरहित ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि प्रगट करने का नाम धर्म है। जिसने ऐसी दृष्टि प्रगट की, उसने स्वयं अपने आत्मा का स्वागत किया। अनादि से राग का आदर करके भगवान

आत्मा का अनादर करता था, उसके बदले अब राग से भिन्न चिदानन्दस्वभाव सन्मुख होकर भगवान आत्मा का अपूर्व स्वागत किया; वह मांगलिक है।

पहिले जो बहिरात्मा थे, वे ही अपनी आत्मशक्ति के अवलंबन से अंतरात्मा होकर परमात्मा हुए।

ॐ

अज्ञानी जीव भ्रान्ति के कारण आत्म-शान्ति खो बैठा है।
भ्रान्ति टले तो शांति हो।

ॐ

निर्णय

सबसे पहले ज्ञानस्वभाव के निर्णय पर जोर देते हुए पूज्य गुरुदेव कहते हैं—

'मैं ज्ञानस्वभाव ही हूँ'—ऐसे निर्णय के बिना केवलज्ञानी के आत्मा की या संतों के आत्मा की यथार्थ पहिचान नहीं हो सकती।

एक बार तो ज्ञानस्वभाव का ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाना चाहिये कि बस, फिर वीर्य का वेग स्व की ओर मूढ़ जाय।

चाहे समस्त विश्व बदल जाय, तथापि स्व-कृत ज्ञानस्वभाव का निर्णय न बदले... उस निर्णय में शंका न हो; ऐसे नि:शंक निर्णय के बिना वीर्य का वेग स्वभाव की ओर नहीं मुड़ता।

[—चर्चा से]

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी